

भारत में संसदीय संस्कृति का सृजनात्मक स्वरूप : एक अध्ययन

पारस नाथ सिंह*

संसदीय संस्कृति का उद्भव और विकास दलीय राजनीति में होता है। दलीय राजनीति एक ऐसा साँचा है जिसमें ढलकर संसदीय संस्कृति अपना आकार एवं स्वरूप ग्रहण करती है तथा अपने विकास की दिशा निर्धारित करती है। दलीय राजनीति के संदर्भ में राजनीतिक दलों एवं दल के सदस्यों की जैसी गतिविधियाँ होती हैं, उनका जैसा राजनीतिक और सामाजिक चरित्र होता है, जैसा राजनीतिक व्यवहार होता है, समस्याओं से निपटने की जैसी शैली होती है उसी के अनुरूप संसदीय संस्कृति निर्मित होती है, मुखर होती है तथा विकसित होती है। यदि राजनीतिक दलों के भीतर एवं दलों के बीच की राजनीति संसदीय मूल्यों एवं संवैधानिक अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं है तो संसदीय संस्थाएँ व्यक्ति विषेश या समुदाय विशेष की महत्वाकांक्षाओं के अनुरूप कार्य करने लगती हैं।¹

भारत में संसदीय शासन प्रणाली आधारित संघात्मक प्रजातंत्र है जिसका गठन संचालन एवं निर्देशन राजनीतिक दल करते हैं। राजनीतिक दल ही भारत में सामाजिक रूपान्तरण एवं समाज के राजनीतिक विकास के संवाहक हैं। किन्तु सामाजिक एवं संवैधानिक अपेक्षाओं के अनुरूप उनकी कार्य संस्कृति नहीं है। ये राजनीतिक दल संसदीय व्यवस्था के संचालक हैं। किन्तु संसदीय मूल्यों एवं मानकों के अनुरूप उनकी संरचना नहीं है। ये राजनीतिक दल भारतीय संघवाद एवं राष्ट्रीयता के संरक्षक हैं किन्तु संघवादी अपेक्षाओं एवं राष्ट्रीय मूल्यों के अनुरूप उनका संगठनात्मक स्वरूप नहीं है। इन्हीं विडम्बनाओं के चलते संसदीय संस्कृति अपना प्रयोजन पूरा करने में ही नहीं अपितु अपने को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होती जा रही है। परिणामतः दलीय राजनीति न तो संसदीय एवं संवैधानिक मूल्यों को महत्व दे पा रही है, न जनहित एवं राष्ट्रहित के अनुरूप सामूहिक विवेक को संसदीय संस्थाओं में समाहित कर पा रही है; न समाज के सभी वर्गों के अनुरूप अपने चरित्र का विकास कर पा रही है। आज भारत में कानून का शासन है किन्तु कानून पर से लोगों का भरोसा उठता जा रहा है; जन प्रतिनिधित्व है किन्तु जन

प्रतिनिधियों पर जनता का विश्वास नहीं है; संविधान की सर्वोच्चता है किन्तु संवैधानिक अपेक्षाओं के अनुरूप संसदीय संस्थाएँ कार्य नहीं कर पा रही हैं। सामूहिक निर्णय निर्माण की प्रक्रिया है किन्तु निर्णय में सामूहिक विवेक प्रभावी नहीं है। दलीय व्यवस्था है किन्तु दलीय निष्ठा एवं दलीय प्रतिबद्धता नहीं है। आम जनता के समर्थन से राजनीतिक दल सरकार बनाते हैं किन्तु सरकार को आम जनता एवं संविधान की अपेक्षाओं के अनुरूप संचालित करने में असमर्थ रहते हैं।

ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न विचारणीय है कि वे कौन सी परिस्थितियाँ हैं तथा कौन से कारण हैं जिनके चलते भारत में दलीय राजनीति का विकास संसदीय मूल्यों एवं संवैधानिक अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं हो सका। स्वतंत्र भारत में दलीय राजनीति का विकास 1952 के निर्वाचन, सरकार गठन एवं सरकार संचालन के संदर्भ में प्रारंभ हुआ। 1952 से 1967 तक सम्पूर्ण भारत पर कांग्रेस का एकाधिकार रहा। अतः दलीय राजनीति मुख्य रूप से कांग्रेस पार्टी में ही केन्द्रित रही। कोई भी विपक्षी पार्टी किसी भी तरह विधान सभाओं एवं संसद में अपनी उपस्थिति दर्ज कराती रही। कोई भी गैर कांग्रेसी पार्टी इस स्थिति में नहीं रही कि वह पार्टी के वर्चस्व की चुनौती दे सके या उसके साथ जन समर्थन हेतु प्रतियोगिता कर सके।² आम जनता गांधी, नेहरू एवं कांग्रेस के प्रति अन्धभक्ति से इतनी अधिक ग्रसित रही कि वह अन्य राजनीतिक पार्टियों पर जन समर्थन हेतु विचार भी नहीं कर सकती थी।

सम्पूर्ण देश में कांग्रेस पार्टी के वर्चस्व के होते हुए भी दलीय राजनीति का स्वरूप संसदीय संस्कृति के विकास की दृष्टि से सृजनात्मक रहा। सत्ता एवं विपक्ष के सदस्यों के राजनीतिक व्यवहारों में शालीनता, शिष्टता, सौहार्द, सामंजस्य, सहिष्णुता, अपने विचारों को निर्भीकता पूर्वक व्यक्त करते रहने की उत्सुकता, रचनात्मक आलोचना प्रत्यालोचना जैसे संसदीय गुण विद्यमान रहे। नागरिक जीवन में तथा संसदीय जीवन में वैयक्तिकता, सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता के स्वरूप की अभिव्यक्ति होती रही। संसदीय मूल्यों एवं संसदीय मानकों को विधान सभाओं से लेकर संसद तक महत्व मिलता रहा। कांग्रेस पार्टी को कभी भी 50 प्रतिशत वोट नहीं प्राप्त हुए तो भी विपक्ष के बिखरे होने के कारण संसद से लेकर विधान सभाओं तक कांग्रेस का बहुमत बना रहा। इतना होने पर भी कांग्रेस पार्टी ने कभी भी विपक्ष की उपेक्षा नहीं की। विपक्ष ने सरकार के गलत निर्णयों का संसद एवं विधान सभाओं के मंच से विरोध किया और उसके विरोध को सदन में महत्व मिलता रहा। सदन में किसी भी मुद्दे पर खुलकर विचार विमर्श होता था। निर्णय निर्माण में सामूहिक विवेक को महत्व दिया जाता था। कांग्रेस पार्टी के निर्णयों की आलोचना संसदीय स्तर पर कांग्रेस के सदस्यों द्वारा की जाने की परम्परा भी

*शोध-छात्र राजनीति विज्ञान, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

कांग्रेस पार्टी में विकसित होती रही।⁹ किसी भी स्तर पर किसी भी सदस्य द्वारा संसदीय मूल्यों एवं संसदीय मानकों की उपेक्षा नहीं की जाती थी। कांग्रेस और अन्य राजनीतिक दलों के बीच निर्वाचकीय प्रतियोगिता के सन्दर्भ में, संसदीय संस्थाओं के संचालन के संदर्भ में, संसदीय कार्यवाही के संदर्भ में जिस राजनीति का विकास हुआ उसमें संसदीय संस्कृति के मूल्य एवं मानक सुदृढ़ आधार ग्रहण करते रहे।

नेहरू के नेतृत्व में संसदीय संस्कृति का स्वरूप सवरता एवं निखरता रहा। उनका व्यक्तित्व संसदीय संस्थाओं पर हावी था तो भी उन्होंने अपने आचरण से संसदीय संस्कृति के विकास में कोई अवरोध नहीं उत्पन्न किया। अपनी ही पार्टी में वामपंथी एवं दक्षिणपंथी दोनों तरह के गुटों को प्रोत्साहित कर समर्थन एवं विरोध के साथ ही समायोजन एवं सामंजस्य स्थापित करने की पहल करते रहे। सम्पर्क सूत्र के रूप में मंत्रिपरिषद् तथा संसद के सभी निर्णयों से राष्ट्रपति को अवगत कराते रहने, राष्ट्रपति के साथ वैचारिक मतभेद रहते हुए भी सार्वजनिक जीवन में उनके साथ सौहार्द बनाये रखने तथा अपने प्रत्येक निर्णय से राष्ट्रपति को आश्वस्त करते रहने की जो परम्परा नेहरू ने विकसित की वह संसदीय संस्कृति को जनोन्मुखी एवं जीवन्त बनाये रखने की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण रहा।⁴

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का अनवरत दो बार राष्ट्रपति होना, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन तथा डॉ. जाकिर हुसैन का उप राष्ट्रपति से राष्ट्रपति होना, सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीशों का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त होना, न्यायाधीशों का राजनीति से अपने को दूर रखना, राष्ट्रपति और संसद के बीच सम्पर्क सूत्र के रूप में प्रधानमंत्री का सक्रिय रहना, संबंधित राज्यों के मुख्यमंत्री के परामर्श से साफ सुथरा छवि वाले व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त करना, विधान सभा के सदस्यों में से ही बहुमत के समर्थन से मुख्यमंत्री का चयन होना आदि ऐसी संसदीय परम्पराएँ विकसित हो रही थीं जो संसदीय संस्कृति की सृजनात्मकता को सुदृढ़ आधार प्रदान करने का मार्ग प्रशस्त कर रही थी। कांग्रेस के सभी प्रभावशाली नेता अपनी-अपनी भूमिका के माध्यम से संसदीय संस्कृति के सृजनात्मक स्वरूप को विकसित करने में नेहरू का खुले दिल से सहयोग करते रहे।⁵

नेहरू के कार्यकाल में हर स्तर पर कांग्रेस में सांगठनिक चुनाव होते रहे। दलीय संगठन, संसद और विधान सभाओं में वे ही प्रभावी रहे जिनका अपना जनाधार रहा, जिनकी दलीय निष्ठा एवं सिद्धांत प्रतिबद्धता असंदिग्ध रही। रजनी कोठारी⁶ का मानना है कि कांग्रेस में सत्ता का केन्द्रियकरण के बावजूद भी तानाशाही नहीं आयी। इसका कारण यह रहा कि निर्वाचन प्रक्रिया स्वतंत्र रूप से काम करती रही। आम सहमति से पार्टी के भीतर धड़ेबन्दी की संरचनाएँ मजबूत

होती चली गयी और विपक्ष सत्तारूढ़ दल पर दबाव डालने में सफल रहा। नेतृत्व की यह खूबी रही कि उसने कानून के शासन का आदर किया, अनावश्यक कलह को टाला और नाना प्रकार के तत्त्वों को एक साथ रखकर हितों के साथ एक किस्म का संतुलन बनाये रखा। कांग्रेस ने अल्पसंख्यकों के प्रश्न पर खासी संवेदनशीलता का परिचय दिया और जहाँ तक हो सका उसके लिए गुंजाइशें निकाली। उन्होंने देश को संस्थाएँ प्रदान की और उन्हें वैधता तथा आधुनिक उद्देश्यों से आवेशित किया।⁷ इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे धैर्य एवं दृढ़ निश्चय के साथ लगे रहे। उन्होंने देश की संसदीय संस्थाओं को जड़ें जमाने के लिए पर्याप्त समय दिया और उनके मुख्य प्रहरी के रूप में उनकी मजबूती सुनिश्चित की।⁸

नेहरू के कार्यकाल में संसद और विधान सभाओं के मंच से देश की समस्याओं पर खुलकर विचार विमर्श होता था। इस विचार विमर्श में सत्ता पक्ष एवं विपक्ष दोनों समान रूप से सहभागिता निभाते थे। सरकार के गलत कार्यों का विरोध विपक्ष के साथ-साथ सत्ता पक्ष के सदस्य भी करते थे। उस समय सरकार का विरोध, विरोध के लिए नहीं बल्कि सुधार के लिए, जनहित के लिए और राष्ट्रहित के लिए होता था। सरकार संसदीय मंच के माध्यम से देश की सारी समस्याओं से अवगत होती थी और आम सहमति से उन समस्याओं का समाधान खोजने की पहल की जाती थी। सांसद एवं विधायक संसदीय एवं विधान मण्डलीय नेतृत्व के अंधभक्त या हाथ की कठपुतली नहीं हुआ करते थे अपितु उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व होता था उनके विचार जनहित एवं राष्ट्रहित से विन्यासित हुआ करते थे।⁹ संसद एवं विधान सभाओं की बहस में भाग लेते समय संसदीय मर्यादाओं, जनहित एवं राष्ट्रहित को सर्वाधिक महत्व दिया जाता था। सांसद एवं विधायक नियमित रूप से सदन में उपस्थित रहते थे तथा विचार विमर्श में भाग लेते हुए समस्याओं के समाधान में रचनात्मक भूमिका निभाते थे। संसदीय कार्यवाही के समय उनका व्यवहार एवं तौर तरीका संसद की गरिमा के अनुरूप होने के साथ ही प्रेरणास्पद एवं अनुकरणीय होता था। वे समाज को सही दिशा में ले जाने वाले आदर्श पुरुष की भूमिका निभाते थे।

राज्यों का पुनर्गठन, योजना आयोग का गठन, औद्योगीकरण, सामुदायिक विकास कार्यक्रम और पंचायती राज का कार्यान्वयन इस दौर की प्रमुख उपलब्धियाँ रहीं। केन्द्र लगातार परिधि तक पहुंचने का प्रयास करता रहा। करीब 20 साल तक कांग्रेस से संस्थानीकरण सतत प्रवाहमान प्रक्रिया के रूप में चला। संस्थानीकरण की प्रक्रिया ने संसदीय संस्कृति को जो पोषक तत्व प्रदान किया उसी से उसका सृजनात्मक स्वरूप संवरता एवं निखरता चला गया।¹⁰

किन्तु नेहरू और लालबहादुर शास्त्री के बाद जब इंदिरा गाँधी प्रधानमंत्री बनी तो कांग्रेस में प्रतिद्वन्द्वी गुट आर्थिक एवं सामाजिक मुद्दों की आड़ में अपने टकराव की अभिव्यक्ति कर रहे थे। अब कांग्रेस में कोई नेहरू जैसा व्यक्तित्व नहीं था जो इन वैचारिक मतभेदों के बीच आम सहमति के आधार पर सामंजस्य एवं विकास विकसित कर सके। पुरानी पीढ़ी के कांग्रेसियों में सत्ता पर पकड़ बनाये रखने की महत्वाकांक्षा बलवती हो उठी। यही कारण रहा कि मोरारजी देसाई की उपेक्षा कर इंदिरा गाँधी को प्रधानमंत्री बनाने की पहल की गयी। जब इंदिरा जी के बामोन्मुखी कार्यक्रम के चलते इंदिरा गाँधी और उनके बीच टकराव की संभावना दिखी तो राष्ट्रपति बी.बी. गिरि की उपेक्षा कर कांग्रेस कार्यकारिणी ने नीलम संजीव रेड्डी को राष्ट्रपति का प्रत्याशी बना दिया। अन्ततः इंदिरा गाँधी ने वैचारिक मतभेदों एवं राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी चयन सम्बन्धी मतभेदों के चलते अपने को कांग्रेस से अलग कर नई पार्टी इंदिरा कांग्रेस का गठन कर लिया।¹¹ सत्ता पर पकड़ बनाये रखने के प्रयास के क्रम में पुरानी पीढ़ी के कांग्रेसियों ने दलीय अनुशासन के नाम पर तथा प्रगतिवादी नई पीढ़ी के कांग्रेसियों ने जनाधार के नाम पर उन संसदीय एवं संविधानिक परम्पराओं को एकाएक तोड़ना प्रारंभ कर दिया जिसे नेहरू जी ने कांग्रेस पार्टी के सहयोग से आम सहमति के आधार पर विकसित किया था। इंदिरा जी ने भी इंदिरा कांग्रेस के गठन में पहले से चली आ रही लोकतांत्रिक प्रक्रिया की उपेक्षा कर दी और अपनी पार्टी का सदस्य उन्हें ही बनाया या पार्टी का टिकट उन्हें ही दिया जो इंदिरा जी के प्रति निष्ठावान थे। टिकट के बंटवारे में या सदस्यों के चयन में दलीय प्रतिबद्धता, समाज सेवा एवं सिद्धांत प्रतिबद्धता या जनाधार को महत्व नहीं दिया गया। परिणामतः इंदिरा कांग्रेस के टिकट पर विजयी सांसदों एवं विधायकों में अधिकांश ऐसे रहे सांसदों एवं विधायकों के चलते सिद्धांतनिष्ठ एवं लोकप्रिय सदस्यों का संगठन न होकर इंदिरा गाँधी के प्रति अनन्य भक्ति प्रदर्शित करने वालों का संगठन बन गया।¹²

1967 के चुनाव के बाद केवल कांग्रेस पार्टी ही नहीं खंडित हुई। बल्कि गैर कांग्रेसी पार्टियों में भी बिखराव उत्पन्न हो गया। कुछ जगहों पर तीन-तीन कम्युनिस्ट पार्टियाँ थीं। सोशलिस्ट पार्टी के दो हिस्से थे, उनके बड़े हिस्से संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के अन्दर जमकर गुटीय संघर्ष हो रहा था। 1967 के बाद गैर कांग्रेसी पार्टियों ने गठजोड़ बनाया और कुल मिलाकर कांग्रेस से निकले तत्वों को साथ मिलाकर इतने किस्म के गुट एवं धड़े बन गये जितने कभी कांग्रेस में भी नहीं थे। नतीजे के तौर पर पहले कांग्रेस की सरकारें दल-बदल के चलते अपदस्थ हुईं और बाद में गैर कांग्रेसी गठजोड़ की सरकारें भी एक-एक कर गिरती चली गयीं। सभी पार्टियों में दल-बदल की प्रवृत्ति मुखर होने से पार्टियों का सैद्धांतिक स्वरूप

समाप्त होने लगा और सत्ता विन्यासित अवसरवादी राजनीति प्रभावी होने लगी।¹³ जिसने संसदीय संस्कृति को कमजोर बना दिया। पार्टियों के भीतर ज्यों-ज्यों सिद्धांतवादी प्रवृत्ति एवं जनोन्मुखी प्रवृत्ति कमजोर होती गयी त्यों-त्यों पार्टी पर विचार एवं सिद्धांत की जगह व्यक्ति हावी होते चले गये।¹⁴ यह स्थिति सर्वप्रथम इंदिरा कांग्रेस में आयी। जनाधार विहीन इंदिरा कांग्रेस के सभी सांसद न तो नेतृत्व के गलत निर्णयों का विरोध करने की स्थिति में रहे, न केन्द्रीय नेतृत्व की लोकप्रियता के अभाव में चुनाव जीतने की स्थिति में रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि जो सांसद पहले निर्वाचकीय प्रतियोगिता में अपनी विजय के लिए ईमानदारी कर्मठता एवं समाज सेवा तथा जन समर्थन पर निर्भर रहा करते थे वे अब नेतृत्व की कृपा एवं नेतृत्व की लोकप्रियता पर निर्भर रहने लगे। जो नेतृत्व पहले निर्णय निर्माण प्रक्रिया में सांसदों को सम्मिलित करना अपना संवैधानिक दायित्व समझा करता था अब वह अपनी महत्वाकांक्षा के अनुरूप निर्णय लेकर सांसदों से स्वीकृत कराने लगा। जिससे सामूहिक विचार-विमर्श की परम्परा समाप्त होने लगी।¹⁵

पहले सांसद एवं विधायक नेतृत्व एवं आम जनता के बीच सम्पर्क सूत्र की भूमिका निभाया करते थे तथा जनता की समस्याओं की जानकारी कर उनके समाधान हेतु नेतृत्व को पहल करने हेतु विवश किया करते थे। वे अब नयी दलीय व्यवस्था में आम जनता की समस्याओं से अनभिज्ञ रहने लगे तथा अपना सारा समय नेतृत्व की खुशामदी करने में लगाने लगे। साथ ही वह जनता की आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं की उपेक्षा करने लगे। सांसदों की इसी मानसिकता ने तथा उनके असंसदीय कार्य संस्कृति ने इंदिरा जी को उन सांविधानिक परम्पराओं एवं मर्यादाओं को तोड़ने के लिए प्रोत्साहित कर दिया जिनसे संसदीय संस्कृति एवं संसदीय मूल्य सुदृढ़ आधार ग्रहण किया करते थे।¹⁶ संसद में 42वें संविधान संशोधन को पारित कराकर राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री का परामर्श मानने के लिए बाध्य करना, सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को सीमित करना, अपनी सुविधानुसार उन व्यक्तियों को मुख्यमंत्री नियुक्त करना जो न तो विधान सभा के सदस्य थे तथा न तो विधान सभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त करने में सक्षम थे तथा लोक सभा का कार्यकाल 5 वर्ष से बढ़ाकर 6 वर्ष कर देना उनके ऐसे कार्य थे। जो संसदीय तंत्र नेहरू जी के समय में आम जनता एवं कांग्रेस पार्टी के हितों को विकसित करने का साधन था अब वह इंदिरा जी की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के साधन के रूप में परिवर्तित होने लगा। अब न तो कांग्रेस पार्टी में नेहरूवादी सहमति कायम रही तथा न ही लाल बहादुर शास्त्री के जमाने में चलने वाली वह सहमति कायम रही जिसके तहत किसी बड़े निर्णय को लेते समय विपक्ष से सलाह ली जाती थी।¹⁷

इंदिरा गाँधी के दलीय प्रभुत्व मॉडल ने राजनीति की जगह नेतृत्व प्रभुत्व मॉडल की राजनीति तथा वोट खींचने वाली लोकलुभावन को राजनीति अपना कर कांग्रेस पार्टी पर ही नहीं अपितु पूरे देश में अपना वर्चस्व स्थापित करने में सफल हो गयी। नेहरू के जमाने से समाजवादी नारे को व्यवहारिक रूप देने में जो बाधाएँ उपस्थित हो रही थी उसे भी समाप्त करने में सफल हुई। बैंकों का राष्ट्रीयकरण, कोयला खानों का राष्ट्रीयकरण, महाराजाओं के प्रीवीपर्स की समाप्ति जैसे प्रगतिवादी कदम उठाकर विकास के उन कार्यों को गति प्रदान करने में सफल हुई जो कि समाज के नीचे के तबकों को ऊपर उठाने के लिए आवश्यक था। राजनीति के दायरे में नये तबकों को सम्मिलित करने में भी वह सफल रही। उनके इन कदमों से हरित क्रांति आयी, विकास हुआ, केन्द्र और परिधि के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हुआ। गरीबों में भी लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भागीदारी करने हेतु उत्साह उत्पन्न हुआ। किन्तु संवैधानिक परम्पराओं को तोड़ने एवं अपनी महत्वाकांक्षा के अनुरूप संसदीय संस्थाओं को व्यवस्थित करने की जो पहल इंदिरा गाँधी ने की उसके चलते लोकतांत्रिक प्रक्रियावाद अवरुद्ध हुई, संसदीय संस्कार कुंठित हुए और विकल्प के तौर पर कोई ऐसी संस्था विकसित नहीं हो सकी जो विकास के लाभ को उन गरीबों तक पहुँचा सके जिनको लक्ष्य करके इंदिरा गाँधी ने समाजवादी क्रांतिकारी कदमों को उठाया था। योगेन्द्र यादव लिखते हैं कि इंदिरा गाँधी ने नेहरूवादी समाजवाद को 'गरीबी हटाओ' जैसे बेहद आकर्षक नारे में बदला। नई नारेबाजी को बेहद लुभावनी लगने वाली नीतियों से जोड़ा।¹⁸

एक तरफ पार्टी नेतृत्व द्वारा बिना दलीय निष्ठा, बिना सैद्धांतिक प्रतिबद्धता पर ध्यान दिये अपनी पसंद के अनुसार प्रत्याशी चुनने की प्रवृत्ति तथा दूसरी तरफ स्थानीय स्तर से प्रान्तीय स्तर की राजनीति में पहुँचे हुए जातिवादी, सम्प्रदायवादी, क्षेत्रवादी एवं अवसरवादी विधायकों की बहुलता ने तथा प्रारंभिक पार्टी से अलग होकर नई पार्टी बनाने वाले नेताओं की सत्ता लोलुप्ता ने दलीय राजनीति की संस्थाकरण वाली प्रवृत्ति को अवरुद्ध ही नहीं किया बल्कि एक तरह से समाप्त कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप सामूहिक विवेक की तलाश करने वाली विचार विमर्श की प्रक्रिया में बाँझपन विकसित होने लगा, आम सहमति के आधार पर समायोजन एवं सामंजस्य की प्रवृत्ति कुंठित होती चली गयी, सांविधानिक परम्पराएं महत्वहीन एवं उपेक्षित होती चली गयी। व्यक्तिवादी एवं जनमत संग्रही राजनीति प्रभावी होती गयी तथा कानून का शासन कमजोर होता गया। इस प्रकार संसदीय संस्कृति के विकास के स्रोत एक-एक सूखने लगे। मोरिस जोन्स ने इस स्थिति की विवेचना करते हुये लिखा है कि विरोधी दलों में टूट-फूट का कारण यह है कि उनमें आपस में सामाजिक सहयोग कम है और दलों के अग्रगामी नेता बिना

शक्ति के भी अपनी छोटी मोटी टुकड़ियों के नेता बने रहना चाहते हैं और एक बड़े समूह में मिलना नहीं चाहते हैं।¹⁹

सन् 1977 के अपवाद को छोड़कर सन् 1989 ई. तक राष्ट्रीय राजनीति में कांग्रेस एकल प्रधान दल की स्थिति में रही किन्तु इसके (सन् 1989) उपरान्त भारत में एक दल की प्रधानता वाली पद्धति के स्थान पर बहुदलीय व्यवस्था प्रभावी रूप से स्थापित हुई। तब से 2014 के 16वीं लोकसभा के गठन के पूर्व तक राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस (ई) के नेतृत्व वाला गठबंधन (संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन-यूपीए) भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाला गठबंधन (राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन-एन.डी.ए.) एवं तीसरा मोर्चा से संबंधित प्रमुख गठबंधन अथवा बहुदलीय स्थिति राजनीतिक व्यवस्था को संचालित एवं गतिशीलता प्रदान करती रही। किन्तु इस दौरान सरकार के गठन हेतु राष्ट्रीय राजनीतिक दलों का राज्य स्तरीय राजनीतिक दलों पर निर्भरता निरन्तर बढ़ती जा रही थी जो एक चिन्तनीय पहलू था। धीरूभाई सेठ के शब्दों में "भारतीय राजनीति ने एक दल की प्रधानता वाली स्थिति से निकलकर उस स्थिति में प्रवेश किया है जिससे कि विभिन्न दलों में प्रधानता प्राप्त करने के लिये प्रतियोगिता प्रारंभ हो गई है।"²⁰

16वीं लोकसभा के चुनावों में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में एनडीए सरकार का गठन हुआ। 2014 के 16वीं लोकसभा चुनाव में कांग्रेस पार्टी की करारी हार हुई तथा भारतीय जनता पार्टी असाधारण बहुमत के साथ सत्तारूढ़ हुई। इस चुनाव में भाजपा की असाधारण जीत के कई कारण थे। सर्वप्रथम तो यूपीए सरकार में हुए घोटाले के कारण पूरे देश में एन्टी-कांग्रेस लहर थी। दूसरे भाजपा की सबका विकास की नीति से जनता प्रभावित थी। तीसरे, भाजपा को सही अर्थों में चुनौती देनेवाले कोई पार्टी नहीं थी। चौथे, नरेन्द्र मोदी युवाओं में काफी लोकप्रिय थे। पांचवे, उनके पास एक प्रगतिशील दृष्टि की। मई 2014 से नरेन्द्र मोदी की सरकार असहिष्णुता, कभी दलित उत्पीड़न आदि को लेकर कांग्रेस एवं वामपंथियों ने सरकार की तीखी आलोचनाएँ की हैं। कुछेक मुद्दों पर तो कांग्रेस सहित अन्य मोदी, विरोधी दल पहले से ही मोर्चाबंदी कर रखी है। जो भी हो नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में एनडीए की यह सरकार पिछले तकरीबन चार सालों से देश से नेतृत्व प्रदान कर रही है।

समसामयिक संदर्भ में राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों की भूमिका में वृद्धि हो रही है। प्रांतीय स्तर से केन्द्रीय स्तर की राजनीति में पहुँचे हुए जातिवादी, साम्प्रदायवादी, क्षेत्रवादी एवं अवसरवादी सांसदों की बहुलता ने तथा प्रारंभिक पार्टी से अलग होकर नई पार्टी बनाने वाले नेताओं की सत्ता लिप्सा ने दलीय राजनीति की संस्थाकरण वाली प्रवृत्ति को अवरुद्ध ही नहीं किया एक तरह से

समाप्त कर दिया है। परिणामस्वरूप आज सामूहिक विवेक की तलाश करनेवाली विचार विमर्श की प्रक्रिया में बाक्षपन विकसित होने लगा, आम सहमति के आधार पर समायोजन एवं सामंजस्य की प्रवृत्ति कुंठित होती चली गयी, संवैधानिक परम्पराएँ महत्वहीन एवं उपेक्षित होती गयीं। दलीय राजनीति में इन प्रवृत्तियों के विकास के चलते प्रत्येक राजनीतिक दल में जनाधार विहीनता की स्थिति उत्पन्न होती गयी।

दरअसल न केवल राष्ट्रीय दल बल्कि क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय राजनैतिक दलों में विचारधारा की तुलना में व्यक्तित्व आधारित राजनीति पर निर्भरता बढ़ रही है। इसी कारण राजनैतिक दलों में बिखराव की प्रवृत्ति में निरन्तर वृद्धि हो रही है। भारत में एक ऐसी दलगत प्रणाली उभर रही है जिसमें बहुत अधिक बिखराव है और दलों के बीच जबर्दस्त होड़ भी है। राजनीतिक दलों की बहुलता लोकतंत्र के विकास तथा संसदीय शासन व्यवस्था के सुचारु रूप से संचालन में एक बड़ी बाधा सिद्ध हुई है। राजनीतिक दलों के नेताओं की रुचि तो मात्र सत्ता सुख प्राप्त करने के लिए सत्ता हासिल करने में है। उनमें आंतरिक लोकतंत्र नहीं है। कोई भी दल एक गठबंधन से दूसरे में चला जाता है, विचारधारा या नीतियों के आधार पर नहीं बल्कि फायदा उठाने के लिए। 1985 में दल बदल विरोधी कानून बनने के बाद भी दल बदल की प्रवृत्ति के कारण हमारा पूरा संसदीय वातावरण दूषित होता हुआ दिखाई दे रहा है। इसके फलस्वरूप संसदीय लोकतंत्र का संचालन खतरे में पड़ गया है।

संदर्भ सूची:-

1. मिश्र, डॉ. सच्चिदानन्द संसद, संसदीय कार्यवाही एवं सांसद: भारत में संसदीय संस्कृति और प्रजातंत्र, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, 1996, पृ. 46-57
2. कोठारी, रजनी भारत में राजनीति: कल और आज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
3. देखिए पार्क और टिंकर, लीडरशिप एण्ड पॉलिटिकल इंस्टीच्यूशन इन इंडिया, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी 1959, पृ. 117-129
4. कश्यप, सुभाष द पॉलिटिकल सिस्टम एण्ड इंस्टीच्यूशन विल्डिंग अंडर नेहरू, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 1990, पृ.23-29
5. उपरोक्त
6. कोठारी, रजनी भारत में राजनीति (2007)

7. धीरू भाई सेठ, "राजनीतिक प्राधिकार की वैधता का क्षय: संकट में लोकतंत्र" संकलित, अभय कुमार दुबे (सं.) लोकतंत्र के सात अध्याय, लोकचिंतन ग्रंथमाला-2, वाणी प्रकाशन दिल्ली, 2002, पृ. 121-130
8. गुहा, रामचंद्र इंडिया आफ्टर गाँधी, पीकाडोर, लंदन, 2012, पृ. 690-691
9. देखें यादव, योगेन्द्र "कायापलट की कहानी : नया प्रयोग, नयी संभावनायें, नये अंदेश" संकलित, अभय कुमार दुबे (सं.) लोकतंत्र के सात अध्याय, लोकचिंतन ग्रंथमाला-2, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 2002, पृ. 46-48
10. वेईनर, मायरन पार्टी विल्डिंग इन ए न्यू नेशन, शिकागो, 1967, पृ.42
11. कोठारी, रजनी भारत में राजनीति: कल और आज (2007), पूर्वोक्त, पृ.-231
12. शौरी, अरूण द पॉलियामेंट्री सिस्टम, रूपा एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 2007, पृ. 147-169
13. श्रीधरन, ई. द फ्रेगमेंटेशन ऑफ द इंडियन पार्टी सिस्टम, 1952-1999, सैवन कम्पीटिंग एक्सप्लैनेशनस" इन जोया हसन (सम्पादित) पार्टिज एण्ड पार्टी पॉलिटिक्स इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2002, पृ. 62-69
14. गौड़ा, एम.वी.राजीव एण्ड ई. श्रीधरन, "पार्टिज एण्ड पार्टी सिस्टम 1947-2006" इन सुमित गांगुली, लैरी डायमंड एण्ड मार्क प्लैटनर (एडिटेड) द स्टेट ऑफ इंडिया डेमोक्रेसी, जॉन हापकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस, बाल्टीमोर, 2007, पृ. 183-190
15. उपरोक्त
16. देखें कविराज, सुदीप्त 'इंट्रोडक्शन' संकलित, सुदीप्त कविराज (सम्पादित) पॉलिटिक्स इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1997, पृ. 6
17. ब्रास, पॉल ए द पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सिन्स इंडिपेंडेन्स, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1996, पृ. 108-123
18. यादव, योगेन्द्र, पूर्वोक्त
19. जोन्स, मोरिस द गार्वमेंट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया, हचिनसन, यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, लंदन, 1964, पृ. 81-86
20. विस्तृत ब्योरा के लिए देखें धीरूभाई सेठ, सत्ता और समाज, वाणी प्रकाशन, न्यू दिल्ली, 2009
